

जनजाति और जाति

इकाई की रूपरेखा

- 18.1 प्रस्तावना
- 18.2 जनजातियों में रूपांतरण
- 18.3 संस्कृतिकरण
- 18.4 हिंदूकरण
- 18.5 भाषा
- 18.6 गलतफहमी का आधार
- 18.7 समुदाय के रूप में जनजाति
- 18.8 निष्कर्ष
- 18.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप समझ सकेंगे :

- जातियों में जनजातिय रूपांतरण की प्रकृति;
- जनजातियों की तुलना में संस्कृतिकरण और हिंदूकरण की प्रक्रियाएँ;
- जनजातिय पहचान के विशिष्ट घटक के रूप में भाषा;
- जनजातिय पहचान के संबंध में गलतफहमी का आधार; और
- जनजाति का सामुदायिक जीवन।

18.1 प्रस्तावना

स्वतंत्रता के बाद के समय में जनजाति को जाति से अलग दिखाने के प्रति न केवल अधिक ध्यान दिया गया है बल्कि अधिक व्यवस्थित प्रयास भी किए गए हैं। तथापि, आजतक विद्वान किसी व्यवस्थित मापदंड तक नहीं पहुँच पाए हैं। सामान्यतः, उन्होंने एक को दूसरे से अलग दिखाने के लिए विभिन्न मापदंडों का आधार लिया है। सामान्यतः यह माना जाता है कि ये दोनों, दो भिन्न सामाजिक संगठनों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जातियों को श्रम के अनुवांशिक विभाजन, वंशानुक्रम, शुद्धता और प्रदूषण के सिद्धांत, नागरिक एवं धार्मिक अक्षमताओं आदि के द्वारा नियंत्रित माना जाता रहा है। दूसरी ओर, जनजातियों में उन विशेषताओं का अभाव पाया गया है जो जातियों में थीं। ये दोनों प्रकार के सामाजिक संगठनों को भिन्न सिद्धांतों द्वारा नियंत्रित माना जाता है।

ऐसा कहा जाता है कि नातेदारी के बंधन जनजातिय समाज को नियंत्रित करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे के बराबर समझा जाता है। वंशानुक्रम और वंश को स्वामित्व और उत्पादन तथा खपत की मुख्य इकाई माना जाता है। इसके विपरीत, असमानता, निर्भरता तथा अधीनस्थता जाति समाज के अभिन्न अंग हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि जनजातियों में उतना भेद नहीं होता जितना जाति समूहों में होता है। जाति

समूह धर्म के दोनों पक्षों के प्रत्येक के लिए विभिन्न रूप, प्रथाएँ और व्यवहार पेटर्न बनाए रखते हैं। जनजातियों और जातियों को उनके सदस्यों के मनोवैज्ञानिक स्वरूप के संदर्भ में भी भिन्न दिखाया जाता है। जनजातियाँ खाने, पीने, संभोग, नाच या गाने के संदर्भ में प्रत्यक्ष और विशुद्ध संतोष महसूस करती हैं। इससे अलग, जातियाँ इन सुखों के बारे में कुछ उभयमुखता दिखाते हैं।

इसके अतिरिक्त, "जाति" समाज में, गाँव को सांस्कृतिक रूप से विजातीय होने की अपेक्षा की जाती है और प्रत्येक जाति प्रथागत परंपराओं का विशिष्ट संयोजन अपनाती हैं। दूसरी ओर, जनजाति के लोग अपने समाज को सजातीय होने, या कम से कम विजातीय न होने की अपेक्षा करते हैं (मेंडेलबॉम, 1970 : 577)। इस और कुछ अन्य ऐसे प्रयासों से, भारत में जनजाति की अवधारणा के संदर्भ में कुछ छवियाँ तथा मान्यताएँ विकसित की गई हैं। इनमें शोषणकारी वर्गों का अभाव और संगठित राज्य संरचनाएँ; नातेदारी के संबंधों की बहु-प्रकार्यात्मकता, सर्वव्यापी धर्म; सामाजिक-आर्थिक इकाई की अंश प्रवृत्ति; समान लक्ष्यों के लिए शीघ्र सहयोग; उथला इतिहास; विशिष्ट प्रतिबंध; प्रथाएँ तथा नैतिक संहिताएँ; युवा आवास; तकनीक का नीचा स्तर; सामान्य नाम, क्षेत्र, वंश, भाषा, संस्कृति आदि (पाथी, 1992 : 50)।

हालाँकि, विरोधाभासी किंतु सत्य की दृष्टि से, निम्नांकों के ये समूह जिनके संदर्भ में जनजातियों को गैर-जनजातियों से अलग बताया जाता है, यानी, भारत में जनजाति कहलाने वाले समूहों की बड़ी संख्या जाति विचार को नहीं मानती है। और ये समूह भी, जो इन विशेषताओं को मानते हैं, मुश्किल से इन विशेषताओं के संदर्भ में, एक दूसरे के साथ समान संबंध रखते हैं। एक तरफ, ऐसे समूह हैं जो पूर्णतः इन विशेषताओं को मानते हैं और दूसरी ओर ऐसे समूह हैं जिनमें ये विशेषताएँ नहीं हैं। हालाँकि, इनमें से अधिकांश बीच में हैं जो थोड़ा बहुत इन विशेषताओं को मानते हैं। इसलिए, जनजातियों से संबंधित मान्यताएँ भ्रांतिकारक और काफी सीमा तक गलत हैं। इन विशेषताओं को मानने के संदर्भ में, समूहों के बीच इतने भेदभाव के बावजूद, इन सभी को जनजाति माना गया है। हालाँकि, केवल एक चीज जो इन सभी में समान है, वह, बेटेली के अनुसार, यह है कि ये सभी कमोबेश हिंदू सभ्यता के बाहर हैं। और चूँकि जनजातियों की पहचान, राजनीतिक और प्रशासनिक कारणों के प्रबंधन से भी संबंधित है, इसका विश्लेषण करने के लिए कोई प्रयास नहीं किए गए हैं। इसकी अपेक्षा, इन्हें सामाजिक वैज्ञानिकों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है।

18.2 जनजातियों में रूपांतरण

उपनिवेशी मानवजाति विज्ञान में, जनजाति को जाति से अलग दर्शाने के अंग्रेज प्रशासकों/विद्वानों द्वारा दिखाई गई चिंता ने भी जनजाति की विशिष्ट अवधारणा को जन्म दिया। अर्थात् जनजातियाँ शेष जनसंख्या से कटकर रहती थीं और उनसे कोई अंतर्संबंध अथवा परस्पर क्रिया नहीं होती थी। इसके विपरीत पश्चात-उपनिवेशी मानवजाति विज्ञान का प्रमुख मुद्दा जनजातियों के शेष समाज या सभ्यता के साथ निकट संबंधों को दर्शाना रहा है। यह संबंध हालाँकि भिन्न-भिन्न रूपों में देखा गया है। सिन्हा (1958) जनजातियों को छोटी परंपरा के ऐसे आयाम के रूप में देखते हैं जिसे बड़ी परंपरा के संदर्भ में देखे बिना ठीक से समझा नहीं जा सकता है। इसके विपरीत बेटेली (1986 : 316) जनजातियों की भारत और इस्लाम जगत की भाँति, जनजाति एवं सभ्यता के सह-अस्तित्व के संदर्भ में राज्य एवं सभ्यता से बाहर रहने के रूप में अधिक देखते हैं। इस प्रकार हालाँकि, यह अंतर बना रहता है, इन दोनों को कटा हुआ न मानकर परस्पर क्रियाकारक माना जाता है। जहाँ जनजातियों को राज्य से बाहर भी समझा गया है, जैसा प्रायः होता है, उन्हें सभ्यता के प्रभाव से बाहर नहीं समझा गया है। इसलिए जनजातियों

को सभ्यता के साथ निरंतर क्रियात्मक रूप में देखा गया है। फलस्वरूप, जनजातिय समाज को स्थिर न मानकर परिवर्तनशील माना गया है।

जनजातिय समाज के रूपांतरण को जिस प्रभावी रूप में देखा गया है, वह सभ्यता का प्रतिनिधित्व करने वाले समाज में समाहित होकर जनजाति द्वारा सभ्यता का अंश बनने की दिशा में बढ़ने के संदर्भ में है। इतिहासकारों और मानव विज्ञानियों दोनों ने अतीत के संदर्भ में यह देखा है। ओसांबी (1975) ने जानजातीय तत्वों को सामान्य समाज में मिल जाने के विषय में कहा है। इसी प्रकार, एन.के. बोस (1941) ने जनजातियों के हिंदू समाज में मिल जाने का संदर्भ दिया है। इस प्रकार का दावा समर्थन विहीन नहीं रहा है। अनेक मानवविज्ञान संबंधी शोध अब भी जनजातियों के हिंदू समाज में मिलने अथवा जनजातियों के जाति में बदलने की घटनाओं की ओर इशारा करते हैं। जनजातियों ने जाति संरचना के नियमों को मान लिया है और उसमें मिल गई हैं। इस प्रकार, पड़ोसी हिंदू कृषकता से उन्हें अलग बताना अत्यंत कठिन है। इस श्रेणी की कुछ प्रचलित जनजातियाँ भील, भूमिज, मांझी, खासा और राजगोंड हैं। वास्तव में जनजातियों पर अधिकांश सामाजिक मानवविज्ञान संबंधी शोध जनजातियों के जाति में रूपांतरित होने के संदर्भ में हैं। यह श्रेष्ठ रूप से प्रसिद्ध मानवविज्ञानियों द्वारा दिए गए जनजातियों के वर्गीकरण में दर्शाया गया है। भिन्न विद्वानों ने भिन्न रूप से वर्गीकरण किया है किंतु सभी ने हिंदू समाज में विलय की अवस्था का उल्लेख किया है। कुछ प्रचलित वर्गीकरण नीचे दिए गए हैं।

रॉय बर्मन (1972) ने अपने आरंभिक शोध में जनजातियों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया : (1) हिंदू समाज में समाविष्ट जनजातियाँ, (2) सकारात्मक रूप से हिंदू समाजोन्मुख जनजातियाँ, (3) नाकारात्मक रूप से उन्मुख जनजातियाँ और (4) हिंदू समाज से संबंधित जनजातियाँ। विद्यार्थी (1977) ने जनजातियों को इस प्रकार बताया : (1) वन में रहने वाली, (2) ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली, (3) अर्ध संस्कार युक्त (4) संस्कार युक्त और (5) समाविष्ट। एलविन (1944) ने जनजातियों को चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया। ये थीं : (1) शुद्ध जनजातिय समूहों में से सर्वशुद्ध, (2) मैदानी इलाकों के संपर्क में और इस प्रकार परिवर्तनशील किंतु जनजातिय रहन-सहन को बनाए रखने वाली, (3) हिंदू समाज के निचले स्तर पर रहने वाली, (4) पूर्णतः हिंदू आस्था को अपनाकर आधुनिक जीवनशैली के साथ रहने वाली। विद्यार्थी द्वारा प्रयुक्त वर्गीकरण के मापदंड में तर्कसंगत समानता का अभाव है। एलविन ने तो यहाँ तक लिखा कि संपूर्ण समस्या यह थी कि पहले और दूसरे वर्ग के जनजातिय लोगों को बिना तीसरे वर्ग के दुख और विघटन को सहे किस प्रकार सीधे चौथे वर्ग की ओर ले जाने में सफलता मिले। दुबे ने भी जनजातियों का वर्गीकरण एलविन की भाँति ही किया है। ऐसे कई अन्य लोग हैं जिनमें बोस, फुक्स आदि शामिल हैं जिन्होंने कोई विशिष्ट वर्गीकरण नहीं बनाया किंतु उन्होंने जनजातियों द्वारा हिंदू समाज में समाविष्ट होकर निचले अथवा ऊंचे स्थान प्राप्त करने का उल्लेख किया है।

ऐसे विद्वान भी हैं जो हमें जनजातियों के रूपांतरण की ऐसी अवधारणा से सचेत करते हैं। अपने बाद के लेखों में रॉय-बर्मन (1983, 1994) ने बताया है कि यदि जनजातियों के कृषक वर्ग में रूपांतरण को तय नहीं मानना है तो भारतीय संदर्भ में जनजाति के जाति में रूपांतरण को भी निश्चित नहीं माना जा सकता है। ऐसा उसने बोस और श्रीनिवास के मॉडलों की आलोचना द्वारा बताया है। उसने हिंदूओं में परिवर्तित जनजातियों की जाति से रक्षा के अभाव के बारे में बताया है। पाथी (1992 : 50-51) ने ऐतिहासिक और संदर्भगत प्रमाण के अभाव के कारण जनजातियों के जाति में रूपांतरण की हावी होती प्रवृत्ति पर प्रश्न चिह्न लगाया है। फिर भी वह कोसांबी के दृष्टिकोण का समर्थन करता है जब वह कहता है कि भारतीय इतिहास का संपूर्ण पाठ्यक्रम दर्शाता है कि जनजातिय तत्वों को सामान्य समाज में मिलाया जा रहा है।

सोचें और करें 18.01

क्या जनजातियों के जाति में रूपांतरण की कोई प्रक्रिया है? अपने वाक्यांश का उत्तर दीजिए।

ऐसा समझा जाता है कि जनजातियों का जातियों में रूपान्तरण कतिपय विधियों से हुआ है जिन्हें विभिन्न प्रकार से अवधारित किया गया है। कोसाम्बी (1975) मानता है कि जनजातियों ने हिन्दू समाज में अपने विलय के लिए हिन्दू समाज की तकनीक को प्रमुख विधि के रूप में अपनाया। बोस (1941) के अनुसार विलयन का हिन्दू विधि उत्पादन की संगठनात्मक पद्धति के अन्तर्गत काम करती है। वह कहता है कि जनजातियाँ उस व्यवस्था में इसलिए खिंच आती हैं क्योंकि इस व्यवस्था में उन्हें सुरक्षा मिलती है और यह व्यवस्था अप्रतियोगी है। संस्कृतिकरण को भी एक विधि के रूप में देखा जाता है जिसके द्वारा जनजातियाँ हिन्दू समाज में विलय होती हैं। एक अन्य महत्वपूर्ण विधि जिससे जनजातियों का विलय हिन्दू समाज में होता है जिसे सिन्हा (1962, 1987) राज्य का गठन कहता है। उसके कथनानुसार गाँव के अन्तर्गत संस्कृतिकरण, हिन्दूकरण तथा सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया को उचित ढंग से नहीं समझा जा सकता जबतक कि राज्य निर्माण की विस्तृत संदर्भ में परीक्षा नहीं की जाती। वह आगे लिखता है कि राज्य निर्माण ने जनजातीय व्यवस्था का रूपान्तरण क्षेत्रीय जाति व्यवस्था में करने के लिए एक निर्णायक सामाजिक-राजनीतिक रूपरेखा प्रदान की।

18.3 संस्कृतिकरण

जैसा कि पहले देखा गया है कि सामान्यतः यह माना जाता है कि गैर-जनजातियों के संपर्क में आने वाली जनजातियों में कुछ परिवर्तन हुआ है और यह परिवर्तन सामाजिक प्रक्रियाओं की जटिलता के माध्यम से हिन्दू समाज में समाविष्ट होने की दिशा में हुआ है। विद्वानों ने इन प्रक्रियाओं को भिन्न-भिन्न ढंग से देखा है। इन प्रक्रियाओं को समझने के लिए विभिन्न प्रकार के शब्दों के प्रयोग से यह स्पष्ट है, जिनमें संस्कृतिकरण और हिंदूकरण हैं। समय-समय पर, मानवविज्ञानियों ने संस्कृतिकरण के स्थान पर सत्रीकरण और राजपूतकरण जैसे विशिष्ट शब्दों का भी प्रयोग किया है। ये शब्द विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं को दर्शाते हैं हालाँकि वास्तविकता में ये प्रक्रियाएँ मिलती-जुलती हैं। इसके बावजूद, सामाजिक वैज्ञानिकों में इन्हें एक-दूसरे के स्थान पर पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किया है। अनेक बार इन शब्दों के स्थान पर संस्कारयुक्त, समावेश, मिलना जैसे शब्दों के प्रयोग से समस्याओं को सुलझाया गया है। हालाँकि, मुख्य प्रक्रियाएँ, जिनके द्वारा जाति में जनजाति के रूपांतरण को समझा जाता है, हिंदूकरण और संस्कृतिकरण हैं।

प्रश्न यह है कि हिंदूकरण, संस्कृतिकरण आदि जैसी प्रक्रियाएँ जो जनजातिय समाज में होती हैं, क्या जनजातिय समाज का स्थान परिवर्तन करके हिंदू समाज में उनके समावेश का मार्ग प्रशस्त करती हैं? क्या दूसरी संस्कृति को अपनाने के कारण कोई जनजाति, जनजाति न रहकर जाति बन जाती है? वास्तव में, पूर्व में उल्लिखित सभी विद्वान ऐसा ही सोचते थे। इन विद्वानों के लिए, जनजातियों का अस्तित्व जाति समाज पर अनिर्भर नहीं रह जाता है। तथ्य यह है कि हो सकता है कि ऐसा पहले होता हो किंतु आजादी के बाद, भारत में ऐसा नहीं होता है।

चूँकि जनजातियों द्वारा हिंदू समाज की संस्कृति को अपनाना या जाति में उनका रूपांतरण संस्कृतिकरण/हिंदूकरण के कारण हुआ है, आरंभ में ही, इन शब्दों और अवधारणाओं, विशेषकर संस्कृतिकरण की उपयुक्तता की जाँच करना महत्वपूर्ण है।

संस्कृतिकरण ऐसी प्रक्रिया है जिसमें निचली स्तर के समुदाय अपने क्षेत्र की प्रभावी जाति की जीवनशैली को अपनाते हैं। इस प्रक्रिया से, निचली जातियाँ, जाति अनुक्रम में ऊपर के स्थान पर आ जाती हैं। कई बार, ऐसी प्रक्रिया को समझाने के लिए क्षत्रीयकरण या राजपूतकरण जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। अब इस प्रक्रिया को जाति समाज के अंतर्गत सामाजिक परिवर्तन की गतिकी को समझने के लिए होता है। हालाँकि, समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक मानवविज्ञानियों ने इस शब्द और अवधारणा का विस्तार जनजातिय समाज में चल रहे कुछ परिवर्तनशील प्रक्रियाओं को समझाने के लिए क्या यह विस्तार वैध है? मेरे विचार से, यह विस्तार जिस संदर्भ में इसे प्रयोग किया जा रहा है, जनजातिय समाज के संदर्भ में बिल्कुल उपयुक्त नहीं है। यह अनुपयुक्त है क्योंकि यह मानता है कि जनजातियाँ पहले हिंदू समाज का भाग हैं और बाद में वे जाति समाज का अंग हैं। जनजातियों को, संक्षेप में, इसलिए जनजाति माना गया है क्योंकि वे हिंदू और जाति समाज दोनों से बाहर हैं। यानी, जनजाति वह समाज है जो जाति-हिंदू समाज से बाहर रहती है। क्या संस्कृतिकरण की ऐसी कोई प्रक्रिया हो सकती है जिसकी जनजाति के जाति-हिंदू समाज का अंश बने बिना कल्पना की गई है? इस प्रक्रिया की यह माँग है कि जनजातियों को पहले हिंदू समाज में प्रवेश करना चाहिए।

सोचें और करें 18.02

क्या जनजातियों के बीच संस्कृतिकरण होता है? चर्चा करें।

प्रश्न यह उठता है कि क्या हिंदूकरण संस्कृतिकरण के समान है। ये दोनों वस्तुतः अंतर्संबंधित हैं किंतु जनजातियों के संदर्भ में संबंधित प्रक्रियाओं को संस्कृतिकरण की अपेक्षा हिंदूकरण कहना अधिक उपयुक्त होगा। ऐसा इसलिए है क्योंकि जाति अनुक्रम में ऊपर की ओर बढ़ना जनजातियों के लिए अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। निश्चय ही जाति संगठन के बाहर हिंदू आस्था और प्रथाओं की कल्पना करना संभव नहीं है। इस प्रकार, हिंदूकरण के साथ सदैव जाति प्रस्थिति जुड़ी रहती है। किंतु जनजातियों से संबंधित जाति प्रस्थिति को "निम्न जाति प्रस्थिति" माना जाता है। यदि ऐसा है तो जनजातियों के मामले में सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया कहा है? इस प्रक्रिया के माध्यम से जनजातियों को क्या लाभ होता है? उन्होंने उच्च प्रस्थिति के लिए भी दावा नहीं किया है (हरदिमान, 1987 : 158-159)। इसकी अपेक्षा बाहरी लोग इस प्रकार की प्रस्थिति जनजातियों पर थोपते हैं। वास्तव में हिंदूकरण के बाद भी जनजातियाँ कमोवेश हिंदू समाज की अनुक्रमिक संरचना से बाहर रहती हैं। यदि ऐसे कोई भी दावे होते तो ये किए गए होते, जैसा कि हम उनके पड़ोसी हिंदू और भाषाविज्ञान समुदाय की बृहत् सामाजिक संरचना में प्रविष्ट होने के बाद देखेंगे।

जनजातियों के मामले में संस्कृतिकरण की अवधारणा से जुड़ी समस्या यहाँ समाप्त नहीं होती है। संदर्भ समूह की भी एक समस्या है। साहित्य से यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं होता है कि कौन-से जाति समूह, जनजातियों ने (शाही अथवा प्रमुख वंशों को छोड़कर) अपने-अपने क्षेत्र में श्रेष्ठता प्राप्त की है। शाही/प्रधान वंश ने सदैव राजपूतों की बराबरी की है और उनके साथ वैवाहिक संबंध बनाए हैं। इस प्रकार जहाँ जनजातिय समाज का ऊपरी स्तर हिंदू जाति समाज के साथ जुड़ गया, अन्य लोग हिंदू समाज के बाहर रहते रहे हालाँकि हो सकता है उनमें हिंदूकरण की प्रक्रिया मौजूद रही हो। वंश अनुक्रम में ऊपर चढ़ना उनका मुख्य उद्देश्य नहीं रहा है। इसके चलते, भारत में जनजातियों के संदर्भ में संस्कृतिकरण की अपेक्षा हिंदूकरण के विषय में बात करना अधिक उपयुक्त होगा। इसके अतिरिक्त जनजातियाँ यदि कुछ जातियों को श्रेष्ठ मानती हैं तो वह उनकी जाति प्रस्थिति के कारण नहीं, बल्कि उनके जागीरदार, ठेकेदार, लंबरदार आदि होने के कारण है।

एक प्रश्न यह उठ सकता है कि फिर किसी उच्च प्रस्थिति को प्राप्त न करने के बावजूद जनजातियाँ स्वयं को हिंदूकृत क्यों करती हैं? क्या वे बृहत् समाज में मिल जाना चाहती हैं? हो सकता है कि ऐसा अतीत में होता हो किंतु वर्तमान में ऐसा नहीं है। आज, प्रभावी समुदाय के विचारों, मूल्यों और प्रथाओं को अपनाने की प्रक्रिया किसी जाति प्रस्थिति को अपनाकर उस समाज का अंग बनने की अपेक्षा प्रभावी समुदाय के जैसा बनने की है।

18.4 हिंदूकरण

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जनजातियों को जाति के रूप में अधिकांशतः संस्कृतिकरण की अपेक्षा हिंदूकरण के कारण दर्शाया गया है। वास्तव में, जनजातियों को जाति के रूप में दर्शाने के लिए सामाजिक मानवविज्ञान संबंधी साहित्य में यही आधार लगता है। और फिर भी उन्हें सिर्फ इसलिए जाति कहा जा सकता है कि वे हिंदूकृत हो गए हैं? क्या हिंदूकरण की प्रक्रिया किसी समूह को जाति का नाम देने के लिए पर्याप्त है? क्या किसी जनजाति के लिए सरलता से उपलब्ध होकर भी जाति व्यवस्था से बाहर रहना अर्थात् किसी जाति की अपेक्षा जनजाति के सामाजिक संगठनात्मक सिद्धांतों द्वारा नियंत्रित रहना संभव नहीं है? इस प्रकार की बातों पर या तो पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया अथवा उन शोधकार्यों में इनकी उपेक्षा हुई है जहाँ जनजातियों को जाति अथवा सभ्यता के ढाँचे पर प्रारूपित किया गया है। यदि हिंदू समाज को जाति समाज के बाहर नहीं समझा जा सकता तो जनजाति का जाति अथवा हिंदू समाज में रूपांतरण समस्यापूर्ण है। वास्तव में जनजातियों के जाति में रूपांतरण का संपूर्ण तर्क त्रुटिपूर्ण लगता है।

सैद्धांतिक रूप से हिंदू सामाजिक संगठन के अर्थ में हिंदू समाज का जाति नामक भाग बने बिना हिंदू आस्था और प्रथाओं के किसी रूप को अपनाने के अर्थ में हिंदू बनना संभव है। दूसरी ओर यदि हिंदू समाज और जाति संगठन अलग नहीं किए जा सकते तो जनजाति के जाति में रूपांतरण का हिंदूकरण अकेला कारण नहीं हो सकता है। वस्तुतः कई अन्य पक्ष हैं जिन पर समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवविज्ञानियों को ध्यान देना चाहिए। ये ऐसे पक्ष हैं जैसे क्या जनजातियाँ हिंदूकरण/संस्कृतिकरण की प्रक्रिया अपनाने के बाद सचमुच जाति समाज की संरचना का अंग बन जाती हैं? वे कौन-सा जाति नाम अपनाती हैं और जाति अनुक्रम में उनका सही स्थान क्या होता है? यह स्पष्ट नहीं है कि किसी प्रक्रिया में लिप्त समूह उसी स्थान पर रहते हैं अथवा अस्पृश्यों की भाँति उनमें कोई अनुक्रमिक व्यवस्था होती है। यह भी कि छोटा नागपुर के अधिकांश गाँवों की भाँति जहाँ बनिए, बाटमण, राजपूत और अन्य एक ही गाँव में जनजातियों की तरह रहते हैं, ऐसे गाँवों में जहाँ जनजाति और जातियाँ दोनों रहते हैं, उनकी क्या भूमिका होती है? वास्तव में, समाज के जाति सदस्यों के साथ जनजातियों की परस्पर क्रिया की प्रवृत्ति शुद्धता-अशुद्धता की अपेक्षा बाजार और आर्थिक अंतर्निर्भरता द्वारा अधिक नियंत्रित होती है। इसके अतिरिक्त गाँव में उनका जीवन नातेदारी के सिद्धांत और अनुक्रमिक व्यवस्था के अभाव पर आधारित होता है। संक्षेप में हिंदू आस्था और प्रथाओं को अपनाने के बाद भी जनजातियाँ समाज की जाति संरचना पर सामाजिक, सांस्कृतिक और प्रथागत रूप से निर्भर नहीं होती हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना मुश्किल है कि जाति संरचना के परिप्रेक्ष्य से जनजाति कहे जाने वाले लोगों का अध्ययन करना क्या उपयुक्त है? हालाँकि मानवविज्ञानियों ने बिल्कुल यही किया है। उन्होंने जाति को वहाँ खोजने का प्रयास किया है जहाँ वह मौजूद नहीं है।

बॉक्स 18.1 : जनजातियों के हिंदूकरण का विरोधाभास

जनजातियों में हिंदूकरण अथवा संस्कृतिकरण की प्रक्रियाओं को संपूर्ण समूह के रूप में नहीं अपनाया है। उनके बीच सामान्य पद्धति यह है कि उनमें से केवल एक हिस्सा

ईसाई धर्म अथवा हिंदू धर्म अथवा इस्लाम आदि द्वारा प्रदान किए गए जीवन के नए ढंग को अपनाता है। यदि ऐसा है तो क्या हम एक ही समूह के कुछ लोगों को जाति तथा शेष को जनजाति कह सकते हैं? क्या एक ही समूह, एक ही समय पर जाति और जनजाति बन सकता है? किसी ऐसे गाँव की अनुभाविक वास्तविकता, जहाँ जनजातियाँ अल्पसंख्यक हैं और हिंदू समाज में समाविष्ट हो गई हैं, उन गाँवों और क्षेत्रों तक जाती हैं जहाँ जनजातियाँ अल्पसंख्या में न हो ओर जहाँ हिंदूकरण की प्रक्रिया के होने के बावजूद उन्होंने अपनी पुरानी पहचान न त्यागी हो। हालाँकि जहाँ जनजातियों ने हिंदूकरण को पूर्णतः अपना लिया है, वहाँ उन्हें स्वयं को जाति के अनुसार काफी सीमा तक ढालना पड़ता है। उन्होंने स्वयं को जाति तक बताया है और अन्य लोगों ने भी उन्हें जनजाति न कहकर जाति के रूप में संबोधित किया है। इस संदर्भ में असम तथा पश्चिम बंगाल के कोछ - राजबोंगशीयों का उल्लेख किया जा सकता है। किंतु किसी संपूर्ण समूह का एक भिन्न मूल्य व्यवस्था की ओर जाना एक असाधारण घटना है। किंतु हाँ ऐसी बात भी हुई है वहाँ उसने अनुक्रमिक जाति संरचना को जन्म नहीं दिया है। संपूर्ण समूह उसी स्तर का बनने की प्रवृत्ति रखता है। यह समूह पड़ोसी क्षेत्रीय समुदाय की जाति संरचना के साथ भी पर्याप्त रूप से संयोजित नहीं हुआ है।

जनजातियों का जाति में रूपांतरण के प्रश्न की जाँच के दौरान, इस चर्चा को जनजातियों और जाति समाज के संबंध तक सीमित रखना पर्याप्त नहीं है। यह भी देखने की आवश्यकता है कि स्वयं जनजातियाँ जाति समाज को किस प्रकार देखती और स्वयं को उससे संबद्ध करती हैं। हिंदू आस्थाओं और प्रथाओं को अपनाने के बाद जनजातियाँ स्वयं को कैसे देखती थीं? वे स्वयं को जनजाति के रूप में देखती थीं या जाति के रूप में? जिन महत्वपूर्ण तरीकों से जनजातियों ने हिंदूकरण या संस्कृतिकरण को अपनाया था, उन्हें मानवविज्ञानी "धार्मिक/सांस्कृतिक आंदोलन" मानते हैं। इस आंदोलन को जनजातियों के बीच प्रचलित रूप से भगत आंदोलन कहा जाता है। वास्तव में, हिंदूकरण/संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के बावजूद, जनजातियाँ अपने एक भाग को जनजाति और एक को जाति नहीं मानतीं। उन्हें जनजातियों की प्रस्थिति से दूर हटा नहीं माना जाता है। इसकी अपेक्षा, अपने जीवन को बदलने के लिए अपनाए गए धार्मिक मूल्यों के आधार पर जनजातियों को विभिन्न वर्गों में वर्गीकृत किया गया है। इसलिए उन्हें ईसाई, भगत, सरन, आदि अलग-अलग बताया गया है।

यह एक रोचक बात है कि जनजातियाँ हिंदूकृत किए जाने के बाद भी स्वयं को हिंदू न बतलाकर भगत बताती हैं। बाहरी लोगों, जनगणना अधिकारियों और मानवविज्ञानियों ने उन्हें "हिंदू" बताया है। मानवविज्ञानियों ने उन्हें जाति भी बताया है। हालाँकि, जनजातियाँ स्वयं को बाहरी लोगों और सामाजिक वैज्ञानिकों द्वारा प्रयुक्त तथा समझे गए अर्थ में विभिन्न जातियों के रूप में नहीं मानती हैं। इस विशिष्ट पहचान का यह पक्ष, जनजातियों द्वारा चलाए गए आंदोलनों विशेषकर स्वायत्तता, भूमि, वन और रोजगार से संबंधित आंदोलनों से अधिक अन्यत्र कहीं इतनी स्पष्टता से नजर नहीं आता है। इन आंदोलनों में, जाति और जनजाति के बीच का अंतर काफी अधिक रहा है। और फिर भी हिंदूकृत की गई जनजातियों ने जाति श्रेणियों की अपेक्षा उन समूहों के साथ एकजुटता दिखाई है जो स्वयं को जनजाति मानते हैं। संक्षेप में, जनजातियों को जाति समाज नामक हिंदू समाज की संरचना में एकीकृत करने के लिए हिंदूकरण की प्रक्रिया आवश्यक तो है किंतु पर्याप्त नहीं है। एकीकृत होने के लिए, जनजातियों को जाति व्यवस्था के सामाजिक संगठन, यानी, कमोबेश एक गैर-आनुभाविक सत्य की ओर बढ़ना होगा।

18.5 भाषा

उपरोक्त चर्चा से पता चलता है कि बिना पहले हिंदू समाज की संरचना में जुड़े, जाति बन पाना संभव नहीं है। जहाँ पर यह एकीकरण हुआ, वहाँ जनजातियों के क्षेत्रीय समुदाय की भाषा में दूसरी संस्कृति को अपनाना, एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रक्रिया रही है। यह जानना महत्वपूर्ण है कि सामाजिक संगठन के रूप में जातियाँ केवल किसी भाषिक समुदाय में ही कार्य कर सकती हैं। इसलिए, किसी जनजाति के लिए किसी क्षेत्रीय भाषिक समुदाय जैसे बंगाली या उड़िया या असमिया समुदाय में मिलने के बाद ही जाति बन पाना संभव है। दूसरी संस्कृति को अपनाने की यह प्रक्रिया, जो क्षेत्रीय समुदाय और इस प्रकार जाति समाज में संयोजन के लिए अत्यधिक केंद्रीय है, दुर्भाग्य से समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक मानवविज्ञानियों द्वारा उपेक्षित है। वास्तव में, बिना पहले भाषिक समुदाय में संयोजित हुए, जाति समाज में संयोजित होना संभव नहीं है। इसी प्रकार, जनजातियों को न केवल जातियों के विरोध में बल्कि क्षेत्र के प्रभावी समुदाय के विरोध में भी देखा गया। प्रभावी समुदाय निश्चय ही भाषिक समुदाय था। भिन्न भाषा का प्रतिनिधित्व करने के अतिरिक्त, वह भिन्न धर्म, प्रथाओं, सामाजिक संगठन और जीवनशैली का भी प्रतिनिधित्व करता है।

इससे एक रोचक प्रश्न पैदा होता है कि सहज और "जाति जैसी" होने के बाद जनजातियों को जाति मानना चाहिए अथवा जनजाति अगर वे अपनी भाषा पर कायम रहती हैं? आखिरकार, जैसा कि पहले देखा गया है, जनजातियों को भाषा अथवा भाषिक समुदाय का विरोधी माना जाता रहा है। क्या वे एक ही समय में जनजाति और जाति दोनों हो सकती हैं? यह बिल्कुल ठीक नहीं है क्योंकि ये दोनों न केवल भिन्न भाषिक समुदाय हैं बल्कि दो भिन्न सामाजिक संगठन भी हैं। क्या फिर जनजातियों को सिर्फ इसलिए जाति मानना चाहिए क्योंकि उनमें हिंदूकरण की प्रक्रिया चल रही है? क्या जनजातियाँ अपनी भाषा, संस्कृति, प्रथा, सामाजिक प्रथाएँ आदि को बनाए रखते हुए भी हिंदूकरण और संस्कृतिकरण के कारण जाति बन सकती हैं? यहाँ हिंदू धर्म या हिंदुओं का जनजातियों पर प्रभाव महत्वपूर्ण है। इससे हालाँकि वे हिंदू नहीं बन जातीं। हिंदू बनने के लिए, उन्हें हिंदू समाज की संरचना में मिलना पड़ेगा, जो क्षेत्रीय भाषिक समुदाय की संरचना में मिलने से ही संभव है। केवल धर्म के आधार पर जनजातियाँ, गैर-जनजातियों से भिन्न नहीं होती हैं। यही उपनिवेशी मानवजाति विज्ञानियों ने किया था।

हालाँकि मानवविज्ञानियों ने जनजातियों को एक से अधिक मापदंडों के आधार पर भिन्न बताया है। इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाषा तथा जाति का सामाजिक संगठन हैं। इस प्रकार, जनजातियों को इसलिए जनजाति माना गया है क्योंकि वे प्रभावी क्षेत्रीय समुदाय से बाहर रही हैं और इस प्रकार, सभ्यता की जटिलता से बाहर रही हैं। हालाँकि धर्म और भाषा सहित, संस्कृति के स्तर पर हुए परिवर्तनों के चलते, यह कहना कठिन है कि जनजातियाँ जातियाँ बन सकती हैं। सचमुच, काफी कुछ क्षेत्रीय भाषिक और हिंदू समाज की सामाजिक संरचना के साथ उनके संबंध पर निर्भर करता है। वस्तुतः, क्षेत्रीय समुदाय की संरचना में जनजातियों के संयोजन के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषताएँ केवल धर्म और भाषा नहीं हैं बल्कि क्षेत्रीय समुदाय की संगठनात्मक संरचना भी हैं।

संस्कृति को अपनाने से संबंधित पक्षों में, भाषा को अपनाना मेरे विचार से धर्म को अपनाने से अधिक महत्वपूर्ण है हालाँकि धर्म एकदम महत्वहीन नहीं है। दुर्भाग्य से, समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों ने भाषा को कभी वह स्थान नहीं दिया जो जनजातियों के जाति में रूपांतरण में उसे दिया जाना चाहिए। फिर भी, इन प्रश्नों में न जाते हुए, मानवविज्ञानियों ने तुरन्त यह निष्कर्ष निकाला है कि जनजातियाँ जाति बन रही हैं अथवा हिंदू समाज में संयोजित हो रही हैं।

यह भी ध्यान रखने की बात है कि किसी बड़े समाज में विलय का यह अर्थ नहीं है कि जनजातियाँ समाज की भाँति नहीं रहती हैं। तो क्या वे सांस्कृतिक परिवर्तन के कारण समाज नहीं रह जाती हैं? क्या बंगाली समाज उसके भीतर पाश्चात्यकरण और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के चलते समाज नहीं रह जाता है? विसंगति यह है कि कोई भी बंगाली समाज के अस्तित्व और पहचान को अस्वीकार नहीं करता है किंतु यही प्रक्रिया यदि जनजातीय समाज में होती है तो सामान्य व्यवहार इसके अस्तित्व को नकारने का होता है। यह कि जनजातियाँ उतना ही समाज की तरह मौजूद होती हैं जितने अन्य समाज होते हैं, दुर्भाग्य से जनजातीय समाज के लिए नकारा जाता है जब वह किसी वृहत् समाज के साथ मिलन के संदर्भ में परिवर्तित होती है। मानवविज्ञानियों ने परिवर्तन के छोटे से संकेत से भी उन्हें बड़े समाज में मिलाने की तेजी दिखाई है। परिवर्तन या दूसरी संस्कृति को अपनाने की प्रक्रिया पर बल देने के उनके उत्साह में, निरंतरता का वह पक्ष जिसके विषय में मानवविज्ञानी को वृहत् भारतीय वास्तविकता के संदर्भ में बात करना अच्छा लगता है, जनजातीय सामाजिक वास्तविकता के संदर्भ में पूर्णतः उपेक्षित रह गया है।

चर्चा इस बात की ओर संकेत देती है कि समाजशास्त्रियों/सामाजिक मानवविज्ञानियों द्वारा निकाले गए निष्कर्ष मानवजाति विज्ञान, अवधारणा और यहाँ तक कि तर्क की भी अपर्याप्तता पर आधारित हैं। उन तरीकों को लेकर कोई जाँच नहीं हुई है, जिनसे हिंदूकृत जनजातियाँ, जातियों से जुड़ी हुई हैं और वे तरीके जिनसे वे अपने मूल समूह के साथ संबंधित हैं। साथ ही, यह जानने का भी कोई प्रयास नहीं किया गया है कि क्या संस्कृतियों को अपनाने वाली जनजातियाँ जाति संगठन अथवा जनजाति के संगठन के सिद्धांत से नियंत्रित हैं? इस प्रकार के मुद्दे जो जनजाति के रूपांतरण के समर्थक तर्क के लिए महत्वपूर्ण हैं, दुर्भाग्य से भली-भाँति विश्लेषित नहीं हुए हैं। न केवल ये बल्कि संस्कृतिकरण और हिंदूकरण की अवधारणाएँ भी ऐसे रूपांतरण के समर्थन में तर्क देने के लिए पर्याप्त नहीं हैं।

18.6 गलतफहमी का आधार

जाति संबंधी अवधारणाओं ने सदैव विद्वानों से यह कहलाया है कि जनजातियाँ, जातियों में बदल रही हैं। वास्तव में, इसका अर्थ यह है कि इस गतिशीलता के कारण जनजातियाँ भारतीय समाज के अन्य अंगों की भाँति हो गई हैं और अब जनजातियाँ नहीं रह गई हैं। सचमुच, उनमें जनजातियों जैसा कुछ भी शेष नहीं रह गया है। इसके कारण ऐसा विचार पैदा हो गया है जिसमें जनजातियाँ/जनजातीय समाज, जाति, कृषक अथवा सामाजिक रूप से भिन्न होकर जनजातियाँ नहीं रह गई हैं। इस प्रकार जातियों/भारतीय संदर्भ में जनजातीय समाज के अध्ययन में एक पक्ष और आ गया है। अध्ययन करने से पूर्व, हमें उस दिशा का पता है जिस ओर जनजातीय समाज बढ़ रहा है। जनजातीय समाजों के अध्ययन के अतिरिक्त यह कहीं अन्यत्र इतना स्पष्ट नहीं है। अन्य जगह, जहाँ जनजातियाँ सभ्यता की जटिलता के साथ संबंधित नहीं हैं, ऐसी समस्याएँ पैदा नहीं होती क्योंकि वहाँ जनजातियों का अध्ययन उनके अपने अधिकारों के अंतर्गत और उन समाजों में चल रही प्रक्रियाओं के संदर्भ में किया जाता है। वे उस अंत बिंदु के संदर्भ में अध्ययनाधीन नहीं होती जिनका प्रतिनिधित्व सभ्यता का अंग होने वाले समुदाय करते हैं जैसा कि भारत के मामले में हुआ है। इस प्रकार, जहाँ अध्ययन का केंद्र जनजातियों का परिवर्तन और उस प्रक्रिया के दौरान उनका राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्र बन जाना होता है, भारत में वह केंद्र जनजातियों के जाति, कृषक और स्तरित श्रेणी में परिवर्तन का तरीका रहा है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जनजातियाँ, जनजातीय समाज नहीं रह जाती हैं। और चूँकि ये सामान्य भारतीय समाज की विशेषताएँ हैं, जनजातियों को सामान्य

भारतीय समाज में समाविष्ट माना जाता है। इसका निष्कर्ष यह है कि जनजातियाँ, इन प्रक्रियाओं के माध्यम से जनजातियाँ नहीं रह जाती हैं और इस प्रकार एक पृथक समाज और पहचान नहीं बनाए रखती हैं। जनजातियों पर मुख्य रूप से इस दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाता है कि वे किस प्रकार सभ्यता की मुख्यधारा में शामिल हो रही हैं। फलस्वरूप, जाति की वास्तविकता सुरक्षित रहती है किंतु जनजाति समाप्त हो जाती है और जनजातियों के बाहरी जगत के साथ अधिक संपर्क में आने के साथ यह अधिक व्यापक रूप से फैलेगा। जनजातियों के अध्ययन में भारत में इतना आनुभविक और अवधारणात्मक दृश्य उस तरीके के कारण है (1) जिससे मानवविज्ञान साहित्य में जनजातियों को देखा जाता है और (2) जिस संदर्भ में उन पर खोज होती है। संक्षेप में, जनजातियों का उनकी तरह से नहीं बल्कि सामान्य भारतीय समाज के संदर्भ में अध्ययन किया गया है जिसकी प्रमुख विशेषताएँ जाति, कृषक और सामाजिक भेदभाव था।

अब मानवविज्ञान में जनजातियों की अवधारणा में, तीन विशिष्ट किंतु अंतर्संबंधित तत्व शामिल हैं। प्रारंभ में, जनजातियों को समाज के रूप में देखा गया है। यह अन्य समाजों की भाँति एक समाज है। यानी, इसमें लोग रहते हैं; इसकी सीमाएँ हैं और समाज के लोग नियमों के तहत रहते हैं जो उन पर कुछ नियमित और एक-दूसरे के प्रति विशेष प्रकार से व्यवहार करना आरोपित करते हैं। समाज के रूप में जनजाति की विशेषता उसकी सीमाओं के माध्यम से जुड़ी होती है। साथ ही, जनजातियों की सीमाएँ निर्धारित हैं — भाषिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक। ये सीमाएँ सदस्यों की विधिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक क्रियाओं को सीमित करती हैं।

दूसरे, जनजातियों को समाज के रूप में भी देखा जाता है, ऐसा समाज जो अन्य प्रकार के समाजों से भिन्न है। उदाहरण के लिए, गोडेलियर (1977 : 30) जनजातीय समाजों की कुछ सकारात्मक और नकारात्मक विशेषताएँ देखता है। नकारात्मक विशेषताओं में सकारात्मक पहलुओं तथा आधुनिक समाज की विशेषताओं का अभाव होता है, जैसे, अशिक्षित, असभ्य, गैर-औद्योगिक, गैर-विशिष्ट आदि। सकारात्मक वे हैं जिनका आधुनिक समाजों में अभाव है जैसे, नातेदारी संबंधों पर आधारित सामाजिक संबंध, सर्वव्यापी धर्म, समान लक्ष्य के लिए सहयोग आदि।

तीसरे, जनजातियों को सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन में एक विशिष्ट अवस्था का प्रतिनिधित्व करने के रूप में भी देखा जाता है और जो समय के साथ, नई अवस्था की ओर बढ़ेगी जैसे राष्ट्र, राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद। अब, जब ये तीन विशिष्ट पहलू इस अवधारणा का निर्माण करते हैं, बाद के दो ने पहले को ढँक दिया है जिसके कारण जनजातियों का अपना अलग और स्वतंत्र अस्तित्व है। इस प्रक्रिया के दौरान हालाँकि हुआ यह है कि जनजातियों को मुख्य रूप से एक अवस्था और समाज के प्रकार के रूप में देखा गया है। उन्हें ऐसे समाज के प्रतिनिधि के रूप में देखा गया है जिसमें आधुनिक समाज की सकारात्मक विशेषताओं का अभाव है।

इसे भिन्न अंग से व्यक्त करते हुए यह कहा जा सकता है कि, उनमें आदिवासी, सरल, अशिक्षित और पिछड़े हुए समाज व्याप्त हैं। शिक्षा, विशेषज्ञता, आधुनिक व्यवसाय, नई प्रौद्योगिकी आदि के कारण इनके गुणों में हुए परिवर्तनों के चलते, जनजातीय समाज अब जनजातीय नहीं रह गया है। यदि यह रूपांतरण जाति की दिशा में है तो इसे जाति समाज माना जाता है। यदि संदर्भ कृषक का है तो इसे कृषक समाज माना जाता है और यदि रूपांतरण की सामान्य दिशा, सामाजिक भेदभाव है तो इसे सामाजिक रूप से भेदभाव युक्त समाज माना जाता है। अंत में, परिणाम यह होता है कि जनजातीय समाज, जनजातीय नहीं रह जाता और यह सही है कि यदि इसे अवस्था और विशिष्ट गुणों के संदर्भ में देखा जाता है। किंतु जैसा कि पहले कहा गया है, जनजाति भी एक समाज है,

जो किसी भी अन्य समाज के जैसा है किंतु जनजातीय समाज को नकारने के साथ इसे भी नकारा जाता है जैसे परिवर्तित स्थिति के कारण। इसी के साथ, स्वतंत्र और अलग जीवित इकाई के रूप में जनजाति का अस्तित्व दाँव पर लग जाता है। इस प्रक्रिया के दौरान, मानवविज्ञानियों और सामाजिक वैज्ञानिकों ने उस संदर्भ की उपेक्षा कर दी है जिसमें यह शब्द जनजाति भारतीय समाज में प्रयुक्त होने लगा था।

सोचें और करें 18.03

क्या आपको लगता है कि भारत में जनजातियों का अध्ययन उनके अपने अधिकारों के संदर्भ में न होकर सामान्य भारतीय समाज के संदर्भ में हुआ है? अपने वक्तव्य का औचित्य बताइए।

भारतीय संदर्भ में जनजातियों की पहचान मुख्यतः उनके सभ्यता से बाहर रहने के कारण हुई थी। फिर "जनजाति" की अवधारणा के प्रयोग में भारतीय सामाजिक वास्तविकता को समझाने में कुछ गड़बड़ी है। ऐसी समस्याएँ उत्पन्न नहीं हों यदि जनजातियाँ, गैर-जनजातीय समाज के साथ सहअस्तित्व में न आएँ। निश्चय ही, उपरोक्त के जैसी समस्याओं का समाधान "देशी" लोग शब्द के प्रयोग से हो सकता है। ऐसी समस्या की जड़ें अवधारणा और भारत में जनजातीय समाज में रूपांतरण को समझने के लिए अवधारणात्मक ढाँचे में हैं। भारतीय समाज में "जनजाति" शब्द के प्रयोग के साथ मूलतः कुछ गलती और गड़बड़ी है।

18.7 समुदाय के रूप में जनजाति

इस कारण भारत में जनजातियों के अध्ययन के लिए संदर्भगत बातों के विषय में यह परामर्श है कि जनजातियों द्वारा अपनी पहचान और स्वयं को संबोधित करने वाले शब्दों का प्रयोग होना चाहिए। यह एक सामान्य अनुभव है कि जनजाति की व्यापक श्रेणी में लाए गए समूह और समुदाय स्वयं को जनजातियों के संदर्भ में नहीं पहचानते (शिक्षितों को छोड़कर), बल्कि अपनी जनजातियों के नामों द्वारा पहचानते हैं जैसे संधाल, ओराओन, खासी या गारो आदि। इतिहास में भी इसी प्रकार जनजातियाँ एक-दूसरे को पहचानती और संबोधित करती थीं। रे (1972: 8-10) 'भारत में जनजातीय स्थिति' नामक पुस्तक के अपने प्रारंभिक निबंध में यही बताता है! वह लिखता है कि हम जानते हैं कि उस समय लोगों के जनसमुदाय होते थे जैसे सवारा, कुल्लूतास, कोल्ला, भिल्ला, खास, किन्नर और असंख्य ऐसे लोग जिन्हें आज हम "जनजाति" के रूप में जानते हैं जिनके आज भी वही नाम हैं। फिर भी जिन शब्दों और अवधारणाओं से उन्हें इतने लोग जानते हैं, वे "जनजातियाँ" नहीं थीं बल्कि "जन" थे जिसका अर्थ लोगों का समुदाय था।

इस प्रकार, यहाँ जो बात समझाई जा रही है वह यह है कि भारत में जनजातियों का अध्ययन उनके वास्तविक समुदायों, यानी संधाल, खासी, गोंड, आदि के संदर्भ में होना चाहिए। यदि जनजातियों का अध्ययन इसी प्रकार किया जाएगा, तो आज की भाँति आने वाली समस्याएँ सुलझ जाएँगी। जनजातीय समाज में या तो जाति की दिशा में, कृषक, सामाजिक भेदभाव या धर्म की दिशा में होने वाला रूपांतरण सार्थक होता है और वह किसी भी प्रकार संबद्ध समूह की पहचान को प्रभावित नहीं करता है। ये रूपांतरण इसलिए सार्थक होते हैं क्योंकि जनजातियाँ, किसी प्रकार का समाज होने और समाज की अवस्था होने के अतिरिक्त, समाज भी होती हैं। इसका अर्थ है कि जनजातीय अध्ययनों में संदर्भगत बातें जाति, कृषक या सामाजिक विषमता न होकर बंगाली, असमिया, गुजराती आदि क्षेत्रीय समुदाय जैसे समूह या समुदाय होती हैं।

जनजातियों के साथी जाति या कृषक नहीं होते जैसा कि अब तक हुआ है बल्कि जातियों और कृषकों को समाविष्ट करते समुदाय या समाज होते हैं क्योंकि जाति या कृषक संपूर्ण समाज न होकर उसका केवल अंश होते हैं। दूसरी ओर, जनजातियाँ किसी अन्य समाज की भाँति संपूर्ण समाज होती हैं जिनमें उनकी अपनी भाषा, क्षेत्र, संस्कृति, प्रथा आदि होती हैं। इसलिए, समाज होने के कारण उनकी तुलना "जातियों" से न करके अन्य समाजों से करनी चाहिए, जैसा कि समाजशास्त्रीय और मानवविज्ञान संबंधी लेखों के मामले में हुआ है। निश्चय ही, यह परिप्रेक्ष्य हलपति, हुबला आदि छोटे जनजातीय समूहों के मामलों में उपयोगी नहीं होगा।

18.8 निष्कर्ष

"जनजाति" और "जाति" का विचार भिन्न सामाजिक श्रेणियाँ हैं। भारत में जनजातियों को भारतीय समाजों की वृहत् श्रेणियों का हिस्सा मानकर समाजशास्त्री और मानवविज्ञानी इन दो भिन्न सामाजिक श्रेणियों को गलत मानते रहे हैं। आज तक विद्वान जाति और जनजाति के बीच भेद करने वाला कोई व्यवस्थित मापदंड नहीं बना पाए हैं। सामान्यतः, उन्होंने अनेक मापदंडों के आधार पर एक को दूसरे से अलग बताने का प्रयास किया है।

सामान्य रूप से यह माना जाता रहा है कि ये दोनों दो भिन्न प्रकार के सामाजिक संगठन हैं। जातियों को आनुवंशिक श्रम विभाजन, वंशक्रम, शुद्रता और अशुद्रता के सिद्धांत, धार्मिक अक्षमताओं आदि द्वारा नियंत्रित माना जाता है। दूसरी ओर जनजातियों में जाति की विशेषताओं का अभाव है। सामाजिक संगठनों के दो प्रकार भिन्न सिद्धांतों द्वारा नियंत्रित माने जाते हैं।

इसलिए, इन दोनों श्रेणियों को सही परिप्रेक्ष्य में समझे जाने की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में, जनजातीय अध्ययनों में संदर्भगत बातों में जाति, कृषक या सामाजिक विषमता की श्रेणियाँ नहीं होनी चाहिए, बल्कि उनका अध्ययन "समूह" या "वास्तविक समुदाय" के रूप में किया जाना चाहिए जैसा कि क्षेत्रीय समुदायों में होता है। यह एक सामान्य अनुभव है कि जनजाति की व्यापक श्रेणी में लाए गए समूह और समुदाय स्वयं को जनजाति नहीं मानते (शिक्षितों को छोड़कर) बल्कि जनजातियों के नामों से पहचानते हैं जैसे, सथल, ओराओन, खासी, गारो आदि। इस सत्य से जनजातीय रूपांतरण की प्रक्रिया संस्कृतिकरण और हिंदूकरण, जनजातीय पहचान में भाषा का तत्व, जनजातीय पहचान की गलतफहमी का मुद्दा और जनजातियों का सामुदायिक जीवन की अवधारणा को सही परिप्रेक्ष्य में समझना आवश्यक हो जाता है।

18.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बेली एफ.जी. 1961, "ट्राइब" एंड "कास्ट" इन इंडिया। *कांट्रिब्यूशन्स टू इंडियन सोशयोलॉजी* (5)।

बेटेली, ए. 1960. "दि डेफीनेशन ऑफ ट्राइव", सेमिनार, (14)।

घुर्रे, जी.एस. 1963. *दि शिडयूल्ड ट्राइब्स*, मुंबई : पॉपुलर प्रकाशन।

वी. एल्विन, 1944. *दि एबोरीजिनलस*, मुंबई : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।